आभार

प्रस्तुत शोध कार्य में कई लोगों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सर्वप्रथम मैं अपने विभागाध्यक्ष **आदरणीय प्रो. सुरेश शर्मा** जी के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने मुझे प्रस्तुत शोध विषय पर कार्य करने की अनुमति प्रदान की। इस पूरे शोध कार्य के दौरान उन्होंने मुझे लगातार प्रेरित किया तथा विषय की बारीकियों को सहजतापूर्वक समझाया। इसके साथ ही लगातार मेरे शोध कार्य पर उनकी दृष्टि रही जिसके फलस्वरूप यह शोध कार्य सम्भव हो सका।

इसके बाद मैं अपने शोध निर्देशक **आदरणीय प्रो. सतीश पावडे** जी के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ कि मेरे द्वारा प्रस्तावित इस शोध विषय को उन्होंने सहर्ष सहमति प्रदान की तथा शोध के अध्यायों को निर्धारित करने में सहयोग किया। मैंने खुद को हमेशा उनसे भावात्मक रूप से जुडा हुआ महसूस किया है और सर से भी हमेशा एक अभिभावक के समान स्नेह मिला। इस शोध कार्य को अंतिम रूप देने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सर की प्रेरणा, सहयोग और सुझावों के लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। मैं अपने विभाग के अन्य सभी शिक्षकों की भी आभारी हूँ जिनका सानिध्य लगातार मुझे प्राप्त होता रहा। विभाग के समस्त सदस्यों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

मेरा शोध चूँकि हबीब तनवीर के नाटकों में लोक तत्वों की खोज पर आधारित है, इसलिए उन सभी लोगों के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जो हबीब तनवीर जी से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े रहें और जिन्होंने मेरी हर सम्भव मदद की है। सबसे पहले मैं **नगीन तनवीर** जी का धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने अपनी व्यस्त दिनचर्या में से थोडा समय निकल कर मुझसे बातचीत की। मैं **कपिल तिवारी** जी का भी आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने तनवीर के व्यापक रंग व्यक्तित्व पर मेरी दृष्टि को स्पष्ट किया। अपने निजी अनुभवों को साझा किया तथा साक्षात्कार के लिए समय दिया। मैं **वसंत निरगुणे** जी का धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने भोपाल में उपलब्ध शोध सामग्री को जुटाने में मेरी मदद की और विषय पर अपने विचार रखे। मैं 'नया थियेटर' के कलाकार **रामचन्द्र** जी को भी आभार देती हूँ जिन्होंने साक्षात्कार के लिए समय दिया।**'राष्ट्रीय हिंदी मेल'** के पत्रकार **पुष्पेंद्र** जी का भी आभार जिन्होंने भोपाल में रहने और फील्ड वर्क में मदद की।

मैं अपने स्नातक कालेज के अध्यापकों **डॉ. प्रभात कुमार**, **डॉ. रमाशंकर कुशवाहा**, **डॉ. अलोक रंजन पाण्डेय** जी समेत सभी गुरु जनों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ। इन सभी लोगों ने मुझे हमेशा प्रेरित किया, मार्ग दर्शित किया तथा विपरीत परिस्थितियों में अभिभावक के समान

खड़े रहे। इन्होंने शोध सामग्री संकलन करने और शोध से सम्बन्धित मेरे लेखों को प्रकाशित करवाने में अपना सहयोग दिया है। आप सभी को धन्यवाद।

मैं अपने परिवार के सभी लोगों का आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे घर की जिम्मेदारियों से हमेशा मुक्त रखा है। उनके आशीर्वाद और स्नेह के बिना तो यह कार्य संभव ही नहीं था। मेरे अपनों ने मुझे समझा और नाटक के क्षेत्र में कार्य करने की अनुमति दी, इसके लिए सभी धन्यवाद के पात्र हैं। मेरी माता के स्नेह और निस्वार्थ त्याग के प्रति मेरा आभार।

मैं अपने दोस्तों - अब्दुल कादिर, विजया सिंह, अनुपमा राय, रंजित कुमार, अभिषेक, रजनीश, आदि के साथ-साथ एम.फिल. के सभी सहपाठियों को धन्यवाद देती हूँ। मैं अपने सावित्रीबाई फुले महिला छात्रावास के तमाम अग्रज एवं अनुज साथियों के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ। अंत में इस शोध कार्य के दौरान होने वाली परेशानियों, समस्याओं का धैर्य से सामना करने के लिए स्वयं को धन्यवाद।

ऋतु रानी

भूमिका

भारत में दो प्रकार की संस्कृति की व्याख्या की जाती रही है। एक है 'सुविचारित वैदिक संस्कृति' तथा दूसरी है 'व्यापक लोक संस्कृति'। 'लोक' और 'संस्कृति' दोनों अपने आप में व्यापक संज्ञाएं है तथा इन दोनों को विखंडित करके नहीं देखा जा सकता है। 'लोक' शब्द एक ऐसे जनसमूह का बोधक है, जहाँ वर्गीय दृष्टि अपने समूह रूप में तिरोहित होती है। इस शब्द की सीमा में जाति, धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय आदि सभी कुछ विलीन हो जाते हैं और शेष रह जाता है मात्र एक मानव समूह जो सरल है, निश्छल है, विशाल है।

हिंदी नाटकों में लोक जीवन की अभिव्यक्ति की यदि बात करें तो भारतेंदु युग में हमें लोकतत्वों की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती हैं। इस युग में नाटकों को जन साधारण से जोड़ने के उद्देश्य से लोकगीत-संगीत,लोक नाट्य शैली के विभिन्न रूपों आदि का प्रयोग किया गया है। भारतेंदु ने स्वयं अपने नाटकों में नाटक, नाटिका, प्रहसन, रास, स्वांग आदि का प्रयोग किया है। उनके बाद तो हिंदी नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में जैसे लोकतत्वों का अभाव ही दिखाई पड़ता है। लेकिन एक लम्बे अन्तराल के बाद 1950 - 1960 के मध्य में हिंदी नाटक फिर से अपने लोक को पहचानने का उद्यम करने लगता है। इस युग में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों को दर्शाने के उद्देश्य से लोक नाट्य शैलियों का सहारा लिया गया, तो कहीं सीधे लोक जीवन की समस्याओं, संघर्ष आदि को अभिव्यक्त किया गया। इन नाटककारों में लक्ष्मीनारायण लाल, जगदीशचंद्र माथुर, शंकर शेष, मणिमधुकर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि के साथ-साथ हबीब तनवीर का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

अपने शोध प्रस्ताव के दौरान यह बड़ी उलझन रही कि किस विषय को लिया जाए. गत वर्षों हुए विभिन्न शोध कार्य को भी एक नजर से देखा गया, लेकिन बात नहीं बनी। इस बीच कई लोगों से बातचीत भी होती रहती थी तो एक दिन मुझे महसूस हुआ कि मैं जब नाटक करने और देखने में रूचि रखती हूँ तो क्यों एक ऐसे रंग रंगकर्मी पर कार्य किया जाए जो एक साथ-नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, समीक्षक सभी कुछ हो। तो इस तरह का रंग व्यक्तित्व हबीब तनवीर में मुझे दिखाई दिया। उनके एक दो नाटक मैं पहले पढ़ ही चुकी थी और मेरे गुरु जनों की भी इसी पर सहमति रही। लेकिन एक समस्या सामने आ रही थी, वो ये की तनवीर जी पर पहले भी कई लोगों ने काम किया हुआ है तो इस मायने मैं क्या नया कर सकती हूँ? ये बड़ी समस्या थी। मैंने कुछ जगह जाकर उन शोध कार्यों को देखा। मेरी जिज्ञासा और बढ़ी। तब मैंने निश्चिय कर लिया कि हो न हो मुझे हबीब साहब पर ही कार्य करना है। मैंने जैसे ही यह शोध प्रस्ताव रखा तो

मेरे शोध निर्देशक ने तत्काल अपनी सहमति दी। मैंने कुछ अध्याय बना भी लिए थे तब तक, तो सर ने देखा और उसमें आवश्यक सुधार कर, एक नई दिशा दी। इसके बाद हबीब तनवीर से जुडी हर तरह की सामग्री जुटाने में लग गई। जब कुछ समय बाद मेरे ज्ञान में वृद्धि हुई तो लगा कि तनवीर तो स्वयं ही एक 'टोटल थियेटर' की परिभाषा हैं और उनका थियेटर अपनी जमींन से जुड़ा हुआ।

प्राक्कथन

तनवीर का 'लोक' में दिलचस्पी लेना कोई पुरातन प्रेम नहीं हैं, बल्कि यह उस सोच पर आधारित है जहाँ लोक परम्पराओं की अपार सृजनात्मक क्षमताओं और उर्जा का स्वीकार्य है। वे इन परम्पराओं से गीत–संगीत, शैली लेने में जरा भी हिचकते नहीं दिखते। 'लोक' उनके यहां हाशिए का नहीं, बल्कि जीवन का हिस्सा है। यह वास्तव में उच्च मानव–मूल्यों का लोक था, जहाँ एक दूसरे के प्रति संवेदना तथा सहिष्णुता दिखाई देती है। इनके नाटक मनुष्यता को समर्पित नाटक हैं। सही मायने में वह मनुष्यता की केन्द्रीयता पर एकाग्र महाकाव्य है। उसमें नायक, प्रतिनायक तथा अन्य चरित्र सब समान रूप में मानवीय और स्मरणीय है।

वास्तव में उनके नाटकों में 'लोक' अपनी स्वाभाविकता में अभिव्यक्त हुआ है। अब चाहे वह उनका 'आगरा बाजार' हो या 'चरनदास चोर', 'हिरमा की अमर कहानी' हो या 'बहादुर कलारिन' सभी में लोक जीवन की अभिव्यक्ति मिलती है। 'चरनदास चोर' में तो नाटक को लोक जीवन से जोड़ने के सन्दर्भ में 'सतनामी धर्म' की मान्यताओं (सत्य ही ईश्वर है) का पालन हुआ है। 'आगरा बाजार' में नजीर की शायरी के माध्यम से लोकतत्त्व उभर कर सामने आते हैं। 'हिरमा की अमर कहानी' नाटक भी बेहद पिछड़े इलाकों के तथाकथित सरकारी विकास की विसंगतियों और आदिवादी जीवन के दुःख दर्द का प्रमाणिक दस्तावेज है। 'गाँव का नाम ससुराल, मोर नांव दामाद' में भी छत्तीसगढ़ी लोक संस्कृति जैसे साकार हो उठी है। इसी कारण हबीब तनवीर के नाटकों में जो लोक रंग दिखाई देता है, उनको ओर करीब से जानने के उद्देश से ही मैंने अपने शोध के लिए उन्हें चुना । उनके नाटकों को पढ़ने और देखने के बाद यह धारणा बनती है कि उन्होंने स्थानिक को विश्वजनीन में रूपांतरित कर दिया है।इस शोध के प्रस्तावित अध्यायों का संक्षिप्त सार निम्न है|

प्रथम अध्याय– लोकतत्व की परिकल्पना : अर्थ और व्याप्ति है। इस अध्याय में दो उपशीर्षक रखे गए हैं । पहला है "लोक शब्द का अर्थ और परिभाषा" तथा दूसरा "लोकतत्त्व : स्वरूप और व्याप्ति"। इस अध्याय में 'लोक' शब्द के अर्थ और परिभाषा को बताया गया तथा

लोकतत्त्व को समझते हुए लोककथा, लोक गाथा, लोक गीत, लोक भाषा आदि भी समझने का प्रयास है।

दूसरा अध्याय- हिंदी नाटकों में लोक तत्त्व : ऐतिहासिक परिदृश्य।इसमें 'स्वतंत्रतापूर्ण हिंदी नाटकों में लोकतत्व' और 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में लोकतत्त्व' की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। इसमें विशेष रूप से भारतेन्दुयुगीन नाटकों में लोक तत्वों पर एक नजर है। प्रसाद युग से होते हुए स्वतंत्रता के बाद के नाटकों में लोक की अभिव्यक्ति को देखा गया है। वास्तव में यह अध्याय हबीब तनवीर के रंग कर्म तक आने की एक कड़ी के रूप में अपनी भूमिका निभा रहा ही।

तीसरा अध्याय – हबीब तनवीर का रंग व्यक्तित्व रखा गया है। इसमें उनके पूरे रंग जीवन को "जीवन और संघर्ष" , "हबीब तनवीर और इप्टा" तथा "हबीब तनवीर की रंग चेतना का विकास" के अंतर्गत देखने का एक प्रयास किया गया। 'जीवन और संघर्ष' में उनके बचपन से लेकर फिल्मी सफर तक की यात्रा है। दूसरे उपशीर्षक में इप्टा में तनवीर की भूमिका को लक्ष्य रखा गया है। अंतिम उपशीर्षक में तनवीर के दिल्ली आने के बाद से उनके अंतिम समय तक की रंग यात्रा का संक्षेप में वर्णन है।

चौथा अध्याय - हबीब तनवीर के नाटकों में लोकतत्व है। यह अंतिम अध्याय है। इसमें भी तीन उपशीर्षक रखे गए हैं। पहला है "छत्तीसगढ़ी लोक रंग और हबीब तनवीर"। इसमें छतीसगढ़ के लोक नाट्य नाचा पंडवानी, पंथी नर्तन के बारे में संक्षेप में बताया गया है। यह तनवीर के रंगकर्म को समझने के लिए एक भूमिका का काम कर रहा है । दूसरा उपशीर्षक 'आगरा बाजार में लोकतत्व' है। इसमें नाटक के परिदृश्य को समझने का प्रयास है तथा लोक के संदर्भ में इसका विवेचन किय गया है। तीसरे उपशीर्षक 'चरनदास चोर में लोकतत्व' में नाटक के कथ्य और शिल्प की दृष्टि से लोकतत्वों को देखा गया है। यह नाटक उनके रंग मुहावरे का सर्वोत्तम उदाहरण रहा है।

इसके बाद **उपसंहार** दिया गया है। इसमें पूरे शोध कार्य का संक्षेप में सार समाहित है। फिर **सन्दर्भ सूची** दी गई है और सबसे अंत में **परिशिष्ट** है। इसके अंदर हबीब तनवीर और उनके रंगकर्म से सम्बन्धित तीन महानुभावकों से किये गए साक्षात्कार शामिल हैं। सबसे अंत में शोध कार्य के दौरान नटरंग प्रतिष्ठान से प्राप्त कुछ समाचार पत्रों के विशेष लेख है जो हबीब साहब से सम्बंधित हैं।

शोध का उद्देश्य

लोक तत्त्व के अर्थ और उसके स्वरूप को जानना

हिंदी नाटकों में लोकतत्वों की स्थिति का अध्ययन करना

आधुनिक रंगमंच में लोक तत्वों के प्रयोग की दृष्टि से हबीब तनवीर की भूमिका विचार

हबीब तनवीर के नाटकों में लोकतत्वों का अध्ययन

शोध प्रविधि : प्रस्तुत शोध में विश्लेषणात्मकपद्धति का प्रयोग किया गया है तथा साक्षात्कार पद्धति के माध्यम से विषय को ओर स्पष्ट करने का प्रयास रहा है|

शोध सीमा :

केवल हबीब तनवीर के रंगकर्म तक दृष्टि रही है

तनवीर केवल दो नाटकों को ही चुना गया है

केवल उन्हीं लोगों से साक्षात्कार लिया गया जो तनवीर से किसी समय जुड़े रहे|

प्रथम अध्याय

लोकतत्त्व की परिकल्पना : अर्थ और व्याप्ति

1.1 'लोक' शब्द का अर्थ और परिभाषा

1.2 'लोकतत्त्व' स्वरूप और व्याप्ति

1.1 'लोक' शब्द का अर्थ और परिभाषा

'लोक' शब्द का एक लम्बा इतिहास रहा है।यह वेदों से चलकर आया है। भारतीय परम्परा में 'लोक' 'वेद'से भिन्न धारा के बोधक के रूप में आता है। " 'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोकृदर्शने' धातु में 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ 'देखना' होता है जिसका लट् लकार में अन्यपुरुष एकवचन का रूप 'लोकते' है। अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ 'देखनेवाला'। अतः वह समस्त जन-समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहलाएगा।"[1] यह इस शब्द का व्युत्पतिमूलक अर्थ है,परन्तु संस्कृत साहित्य से लेकर अब तक हम 'लोक' का अर्थ सामान्य जन के रूप में देखते हैं। "ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में लोक शब्द जीव और स्थान दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। पाणिनी कृत अष्टाध्यायी, पतंजलि कृत महाभाष्य तथा भरतमुनि कृतनाट्यशास्त्र में 'लोक' शब्द का प्रयोग शास्त्रोत्तर, वेदोत्तर तथा सामान्यजन के सन्दर्भ में किया गया है। पाणिनी काल में वेद परिपाटी एवं लोक परम्परा का पृथक रूप मुखरित हो चुका था। श्रीमद्भागवतगीता में प्रयुक्त 'लोक समूह' शब्द का अर्थ भी साधारण जन के आचरण तथा आदर्श से है। प्राकृत, अपभ्रंश और भक्ति साहित्य काल में भी लोक शब्द वेद के प्रतिकूल जनसाधारण की परम्परा की ओर संकेत करता है। "[2] इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य में 'लोक' की प्रयोग परम्परा इन्हीं अर्थ छायाओं से अनुशासित है। भारतीय परम्परा का 'लोक' उतना ही प्रमाण है जितना 'वेद' और 'अध्यात्म'। 'लोक' का ही विकसित रूप बोलचाल में 'लोग' है। "सांस्कृतिक प्रवाह के रूप में लोक की स्थिति देखने पर स्पष्ट होगा कि यह शब्द (लोक) उस मानव समूह का बोध करता है जो आदिम समाजों, ग्रामीण समाजों तथा नागरिक समाजों में एक समान रूप से निवास करने वाला कोई भी मानव समूह हो सकता है।"[3]

'लोक' में समाज की सामूहिक संवेदना, अनुभव तथा सृजनात्मकता निहित है। इसमें व्यक्ति महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि सभी के सहयोग और संघर्ष से उत्पन्न रागात्मकता, लयात्मकता और रसात्मकता महत्वपूर्ण है।'लोक'किसी भी राष्ट्र की अमूल्य निधि है। कृषि जीवन,लोकशास्त्र ज्ञान, साहित्य कला के नाना रूप,भाषाएँ और शब्दों के भंडार, जीवन के आनंदमय पर्वोत्सव,गीत-संगीत,नृत्य, आचार-विचार आदि सभी कुछ 'लोक' में समाहित है। स्थूल रूप में 'लोक' का संकेत साधारण जन के एक ऐसे समूह की ओर होता है जो किसी रूप में सर्वत्र छाया तो रहता है, परन्तु केंद्र या मुख्यधारा में नहीं होता। इस प्रकार **रामविलास शर्मा** के शब्दों में" 'लोक' विशेष रूप से

---

1. सं. महापंडित राहुल सांकृत्यायन- हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास,षोडश भाग, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण 1959, पृष्ठ-1(प्रस्तावना से).
2. ओमप्रकाश भारती- बिहार के पारंपरिक नाट्य, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलाहबाद, संस्करण 2007,पृष्ठ-17.
3. सं. पीयूष दईया- लोक, भारतीय लोक कला मंडल उदयपुर (राज.), संस्करण 2002, पृष्ठ-374.

हमारे इस विश्व की जड़चेतन पदार्थ–सत्ता और विशेषकर समग्र सामान्य मनुष्य जाति का बोधक है, जिससे कालकर्म से परिष्कृत अभिजात्य, विशेष धन सम्पन्न और अर्जित बौद्धिक सामर्थ्यशाली लघुतर वर्ग कुछ अलग पड़ जाता है।"[4]

हिंदीका 'लोक' शब्द अंग्रेजीके 'फोक' का रूपांतरण है।विभिन्न विद्वानों द्वारा इस शब्द के कई अर्थ प्रस्तुत किये गए हैं। किसी ने इसे 'जन' का पर्याय माना है, तो किसी ने 'ग्राम' या 'नगरी' की सीमित परिधि के अंतर्गत इसे परिभाषित किया है। किसी नेतो अशिक्षित और अल्प सभ्य व्यक्तियों के वर्ग को 'लोक'(फोक) के अंतर्गत समाहित किया है। ..

स्टाईन्थल के अनुसार- " किसी देश/समाज के 'फोक' वहाँ के सारे लोग हैं जिनके अपने कुछ खास स्वाभाविक लक्षण होते हैं।बाद में इनके विचारों को **वि.वुणट** ने काफी बढाया।**वुणट** के लेखों में भी फोक का मतलब समाज/ देश के सारे जन–समूह से है।"[5] प्रसिद्ध समाजशास्त्री **डब्ल्यू. जी. सम्नर** भी 'फोक' शब्द का यही अर्थ मानते हैं। उसे सिर्फ किसी खास अलग–थलग रहने वाले उस देश के ग्रामीण व्यक्तियों के लिए नहीं मानते हैं।

लेकिन बाद में मानवशास्त्र में 'फोक' शब्द का दायरा सकीर्ण हो गया। " अमेरिका के प्रसिद्ध मानवशास्त्री **राबर्ट रेडफिल्ड** ने महसूस किया कि 'फोक' कोई सुनिश्चित रूप से परिभाषित शब्द नहीं हैं, लेकिन यह फोकलोर या फोकसौंग्स की मौजूदगी से इंगित होता है। जिन समाजों में ये फोकलोर/फोकसौंग्स पश्चिम के मानवशास्त्रियों के अध्ययन द्वारा पाये गए या पायेजाते हैं वैसे समाजों के लिए रेडफिल्ड ने फोक सोसाइटी या फोक समाज शब्द का प्रयोग किया और एक आदर्श फोक समाज के निम्न लक्षण बताएं : छोटा आकार; पृथक्, विलगित, दूसरे समाज से कोई संपर्क,सम्प्रेषण नहीं; अपने समाज के भीतर बहुत आत्मीय संपर्क; सिर्फ मौखिक सम्प्रेषण पर आधारित; लिखाई-पढाई की कोई स्थिति नहीं; जन-समूह में कोई सामाजिक आर्थिक विभिन्नता नहीं; एकत्त्व की प्रचुर भावना; सारे व्यवहार परम्परा पर आश्रित; पूरा समाज एक धार्मिक समाज; जादू-टोना का प्रचुर मात्रा में प्रभाव; सारे लोग पारिवारिक, अनुवंशिक या धार्मिक बन्धनों से जुड़े हुए, इत्यादि।"[6] इस के आधार पर हम कह सकते हैं कि रेडफिल्ड के लिए एक खास तरह के समाज ही फोक समाज हैं जिसका विकास नहीं हुआ है, जहाँ सभ्यता विकसित नहीं हुई है।

डॉ.बार्कर भी ने 'फोक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि " 'फोक' से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी पूरी जाति का बोध होता है परन्तु इसका यदि विस्तृत अर्थ लिया जाए तो किसी

4. चौमासा (पत्रिका)- अंक-85, (मार्च-जून 2011), सं. कपिल तिवारी, पृष्ठ-77.
5. सं. पीयूष दईया- लोक, भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर (राज.), संस्करण 2002, पृष्ठ- 377.
6. सं. पीयूष दईया- लोक, भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर (राज.), संस्करण 2002, पृष्ठ- 377.

सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते हैं।"[7]भारतीय विद्वानों द्वारा भी 'लोक' की दी गई कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं --

लोक साहित्य के मर्मज्ञ **डॉ. सत्येन्द्र** के अनुसार – "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है"[8] इस कथन की अंतिम पंक्तियों में हम सम्पूर्ण लोक शब्द की व्याख्या को देख सकते है, जिसमें उन्होंने लोक को जीवित संज्ञा से अभिहित किया है। इसमें परम्परा का योग करने से लोक का अर्थ परम्परागत जीवित संसार हो गया है, जो कहीं अधिक व्यापक और मूल्यवान हो उठा है।

संस्कृति की विशेषता को प्रतिपादित करते समय 'लोक' शब्द ग्राम्य माना जाता रहा। लेकिन **डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी** 'लोक' के इस अर्थ से सहमत नहीं दिखते। वे लिखते हैं कि –" 'लोक' शब्द का अर्थ ग्राम्य नहीं बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत,रूचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वालों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उन्हें उत्पन्न करते हैं।"[9]

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने इस सन्दर्भ में कथन किया है कि– "जो लोक संस्कृत या परिष्कृत वर्ग से प्रभावित न होकर अपनी पुरातन स्थितियों में रहते हैं वे लोक होते हैं।"[10]

जबकि **डॉ.श्याम परमार**का मानना है कि- "लोक साधारण जन–समाज है जिसमें भू–भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्ग-भेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं,श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विवेचन का द्योतक है। भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है किन्तु लोक दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है। वही समाज का गतिशील अंग है।"[11]

इस प्रकार 'लोक' शब्द को परिभाषित करने वाले उक्त विचारों का मूल्यांकन करने पर हम पाते हैं कि जो अविच्छिन प्रवाह में रह कर आचार–विचार को पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा

---

7. सं. महापंडित राहुल सांकृत्यायन- हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, षोडश भाग, नागरीप्रचारणी सभा, काशी, संस्करण 1959, पृष्ठ-9.
8. वसंत निरगुणे– लोक संस्कृति, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, संस्करण 2012, पृष्ठ-31.
9. डॉ . बापूराम देसाई– लोकसाहित्यशास्त्र, विकासन प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 2004, पृष्ठ–14|
10 डॉ. बापूराम देसाई- लोकसाहित्यशास्त्र, विकाशन प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 2004, पृष्ठ-14
11 डॉ. स्वामी प्यारी कौड़ा- हिंदी नाटक और रंगमंच में लोकतत्त्व, सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृष्ठ-7

से प्राप्त करता है। आधुनिकता से थोडा दूर है। प्रकृति से आत्मीय सम्बन्ध रखने वाला है। अपनी अभिव्यक्ति में अकृत्रिम, सहज और सरल है तथा शास्त्रीय ज्ञान, पांडित्य बोध और वैयक्तिकता से सर्वथा भिन्न जन-समुदाय है,'लोक' है। इस लोक शब्द की सीमा में जाति, धर्म, वर्ग, संप्रदाय आदि सभी कुछ विलीन हो जाते हैं और शेष रह जाता है मात्र एक मानव समूह जिसमें जन-सामान्य की समस्त व्यावहारिक और कलात्मक गतिविधियां शामिल हैं। जो परम्परागत और संस्कारनिष्ठ तो हैं ही साथ में अलिखित भी हैं।

1.2 लोकतत्व : स्वरूप और व्याप्ति

किसी भी देश की लोक संस्कृति वास्तव में एक जीवंत संस्कृति होतीहै। भारतीय परम्परा में यह जीवंत संस्कृति विभिन्न पर्वों, उत्सवों, व्रतों, संस्कारों और अन्य रीति-रिवाजों के रूप में विपुलता से मिलती है।लोक संस्कृति के ये विविध अंगोपांगही,जो लोकजीवन में परम्परागतआदिम संस्कारों के रूप में वर्तमान रहते हैं,'लोकतत्त्व' कहलाते हैं। ये लोक तत्त्व शास्त्रीयता से दूर सहज और कोमल मनोभावों को अभिव्यक्त करने का साधन हैं। जिसके माध्यम से मानव चित्त में उमड़ रहे भावों को नवीन गति व दिशा प्रदान कर अभिव्यंजित किया जा सकता है। यही कारण है कि आधुनिक हिंदी नाटकों में लोकतत्वों का भरपूर प्रयोग अपनी युग संवेदना के सन्दर्भ में किया गया है।

हबीब तनवीर ने लोक तत्वों को लोकसंस्कृति से सम्बंधित मानते हुए कहा है कि - "लोक हमारे बीच प्रमाण के रूप में स्वीकृत होता है। इस लोक की संस्कृति का अपना समाजशास्त्र है। साथ ही संस्कृति को आप लोकतत्वों से अलग नहीं कर सकते। हमारा लोकसाहित्य संस्कृति और विश्व दर्शन से गहरे जुड़ा हुआ है, परस्पर अनुस्यूत है। शब्दों से परे जाकर भाव और संवेदन की जो अदृश्य दुनिया है, लोक उसे थाती की तरह संभालकर रखता है और भविष्य की पीढ़ियों के लिए उपलब्ध कराता है।"[12]

वास्तव में सामूहिक रूप की छाया में अंकुरित-उल्लसित होती लोक संस्कृति के द्योतक लोकतत्वों में सामान्य जन की आशाओं का स्वर है तथा आत्म भावों से सम्बंधित सामग्री भी। इसमें गंभीर सामूहिक प्रभाव डालने की प्रभूत शक्ति विद्यमान है। लोकतत्व का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। साहित्य और लोकतत्त्व के सम्बन्ध में डॉ. इन्दिरा जोशी लिखती हैं कि– "साहित्य एक व्यापक तत्त्व है और लोकतत्त्व की परिव्याप्ति का विस्तार भी कम नहीं। यदि साहित्य को मानव मन की सूक्ष्मतम अनुभूति का इन्द्रधनुषी प्रतिबिम्ब कहें तो उसमें परिव्याप्त लोकतत्त्व को उसकी सूक्ष्मतम अन्तरंग सतरंगिणी आभा का मूल कहा जाना चाहिए। साहित्य एवं लोकतत्त्व अविभाज्य तत्त्व हैं और साहित्य में लोकतत्व की परिव्याप्ति भी एक शाश्वत व चिरस्थायी सत्य है।"[13]

विभिन्न विद्वानों ने लोकतत्त्व को अपने अपने अनुसार वर्गीकृत किया है।**डॉ. सत्येन्द्र** ने 'लोकतत्व' के विषय को तीन भागों में वर्गीकृत किया है--

12. आलोचना (त्रैमासिक पत्रिका)- अंक-36 (जनवरी-मार्च 2010), पृष्ठ-63
13. डॉ. स्वामी प्यारी कौड़ा- हिंदी नाटक और रंगमंच में लोकतत्त्व, सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृष्ठ-12

"(१) **विश्वास और आचरण** : पृथ्वी और आकाश से / वनस्पति जगत से / पशु जगत से /मानव से

मानव निर्मित वस्तुओं से / आत्मा तथा दूसरे जीवन से / परामानवी

शक्तियों से / शकुनों, अपशकुनों, भविष्यवाणी, आकाशवाणी से /

जादू-टोनों से / स्थानों की कला से।

(२) **रीति रिवाज**: सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएं / व्यक्तिगत जीवन के अधिकार/

व्यवसाय धंधे/ तिथियाँ, व्रत तथा त्यौहार / खेलकूद तथा मनोरंज /

कहानियां गीत तथा कहावतें।

(३) **कहावतें**: जो सच्ची मानकर कही जाती हैं / जो मनोरंजन के लिए होती हैं /

गीत सभी प्रकार के / कहावतें तथा पहेलियाँ / पदबद्ध कहावतें तथा

स्थानीय कहावतें।"[14]

डॉ. श्याम परमार ने भी 'लोकतत्त्व' के विषय का वर्गीकरण निम्न रूप में किया है--

"..... लोकगीत, लोक कथाये, कहावतें,पहेलियाँ

..... रीति-रिवाज, त्यौहार, पूजा, अनुष्ठान, व्रत

..... जादू-टोना, टोटके, भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास

..... लोकनृत्य, लोकनाटक तथा आंगिक अभिव्यक्ति

..... बालक-बालिकाओं के विभिन्न खेल,

..... ग्रामीण एवं आदिवासियों के खेल आदि।"[15]

14. डॉ. स्वामी प्यारी कौड़ा- हिंदी नाटक और रंगमंच में लोकतत्त्व, सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृष्ठ-17
15. श्रीराम शर्मा- लोकसाहित्य स्वरूप और मूल्यांकन, निर्मल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1997, पृष्ठ-49

इस प्रकार हम देखते हैं की अधिकांश विद्वानों ने लोकतत्वों को समान रूप से वर्गीकृत किया है, अंतर केवल कथन की प्रणाली का है। वास्तव में ये लोकतत्त्व जीवन व्यापी है , और प्रत्येक मानव में उसके जन्म से ही बद्धमूल है अर्थात ये उसकी प्रकृति के ही अंग हो गए हैं। इस अध्ययन के बाद हम लोकतत्त्व के प्रमुख विधायक अंगोंको निम्न रूपों से देख सकते है -- लोककथा, लोकगाथा, लोक रूढ़ि, लोक विश्वास, लोक गीत, लोक नाट्य,लोक भाषा आदि।

लोक कथा

किसी भी देश के लोक सांस्कृतिक परिदृश्य को जानने-समझने के लिए कथाएं अन्यतम मानक हैं। लोक का प्राणी अपने उदगारोंको एक आकर्षक कथात्मक परिधान के माध्यम से व्यक्त करता है। लोक जीवन की समस्त उपलब्धियां और त्रासदियाँ इन कथाओं में मिलती हैं। जीवन की पूर्णता को समेटे इन कथाओं में जन मानस का हर्ष-विषाद, आस्था-वैराग्य, कर्म-आलस्य, पर्व-उत्सव,ईर्ष्या-द्वेष, आनंदमूलक क्षण सभी कुछ समाहित हैं। लोक कथा का बीज हमें वैदिक साहित्य में देखने को मिलता है, जिसका विकास क्रमशः संस्कृत की धर्मोपदेशमूलक व मनोरंजनप्रधान कहनियों में होता है। संस्कृत की यही परम्परा हिंदी में चली आई है और फिर वहां से जनपदीय भाषाओँ में।**पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि –

" लोककथा मोटे तौर पर लोक प्रचलित उन कथानकों के लिए व्यवहृत होता है,जो मौखिक या लिखित परम्परा से क्रमशः एक पीढ़ी से दूसरी को प्राप्त होते रहे हैं।"[16]

लोक कथाओं में नृतत्वविज्ञान के अनुसार मानव के आदिम नीतिशास्त्र, धर्म–शास्त्र और न्यायशास्त्र की झलक पायी जाती है। **भिल्डरेड आर्चर** भी कहती हैं कि "वे (लोककथाएं) जातीय ज्ञान को सुरक्षित रखती हैं तथा जातीय रीति–रिवाज को व्यवहार योग्य ठहरती हैं। वे स्तर और मूल्य निर्धारित करती हैं और आत्मविश्वास भारती हैं। लोक कथाएं शक्ति का भंडार हैं जिनसे कि जातीय जीवन सशक्त रहता हैं।"[17]

इस प्रकार लोक कथाओं द्वारा मानव का सम्पूर्ण जीवन आच्छादित है। इसीलिए हमें जीवन के सभी क्षेत्रों की भावनाओं की अभिव्यक्ति उसमें उपलब्ध होती है। इसमें व्याप्त मनोरंजनात्मक और कल्पनात्मक तत्त्व मनोविज्ञान की ही देन हैं। इसी के फलस्वरूप कथाओं में देवी देवताओं, राक्षसों, दानवों आदि का एक विशेष स्थान है जो मानव के आदिम विश्वासऔर परम्परा का प्रभाव

16. रंजन- अंगिका लोक-साहित्य, शब्दसृष्टि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2009, अनुवादकीय से
17. डॉ. सत्येन्द्र- लोक साहित्य विज्ञान, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, संस्करण 2006, पृष्ठ-223

है।वास्तव में लोककथा में लोक जीवन के दुख-सुख, आशा–निराशा, रीति–रिवाज, आस्था–विश्वास, परम्परा इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है ।

लोक गाथा

हमारे देश में गाथा गायन की परम्परा बहुत प्राचीन है।लोकगाथा में ऐसे उदात्त चरित्रों को आधार बनाया जाता है जो लोक आदर्श का प्रतिनिधित्व करते हैं।कदाचित इसीलिए जनप्रियता लोकगाथा के जीवित रहने का प्रथम विनियोग है। कुछ लोकगाथाओं में चरित नायक के जीवन की एक घटना ही होती है तो कुछ में नायक का सम्पूर्ण जीवन। लोकगाथा और लोक गीत में विषपरकता तथा वस्तुपरकता का भेद रहता है।वास्तव में लोकगाथा अभिजात्य प्रबंध काव्य का आधार है। यह जीवंत साहित्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

लोक गाथा गीत के लिए अंग्रेजी में 'बैलड' शब्द का प्रयोग होता है। " **न्यू इग्लिश डिक्शनरी** के अनुसार – " बैलड वह स्फूर्तिदायक या रोचक कविता है, जिसमें लोकी जनप्रिय आख्यान रोचक ढंग से वर्णित होता है। "[18] डॉ. सत्येन्द्र और डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगाथा में कथा और गेयता को अनिवार्य माना है। इसके अतिरिक्त अन्य विशेताएँ हैं– संगीतात्मकता, सुदीर्घ कथानक, टेक पद की पुनरावृत्ति, स्थानीयता, उपदेशात्मकता का आभाव, जनभाषा का प्रयोग, अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन इत्यादि। लोकगाथा उस स्थान की, जहाँ वह गाई जाति ही, सांस्कृतिक परम्पराओं का दिग्दर्शन कराती है। लोकगाथा जनसम्पति है। इसमें सामूहिक भावभूमि का महत्व है।

लोक रूढ़ि

विविध कथा-कहानियों में पुनरावृति होने वाली एक-सी घटनाओं अथवा एक जैसे विचारों को कथारूढ़ि की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ये विचार या घटना कथानकों के निर्माण और विकास में सहायक होते हैं। पाश्चात्य विद्वान **टी. शिलपे** ने रूढ़ि का अर्थ 'किसी कृति की कोई रूपगत विशेषता'के रूप में निरुपित किया है। उनकी धारणा के अनुसार रूढ़ियों का तात्पर्य–" उस शब्द अथवा विचार से है, जो एक ही सांचे में ढले जान पड़ते हैं और किसी एक कृति अथवा एक ही कवि की भिन्न-भिन्न कृतियों में एक जैसी परिस्थितियोंअथवा एक जैसी मनः स्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए एकाधिक बार प्रयुक्त होते हैं।"[19]लोकसाहित्य में कथा रूढ़ियों का बहुत महत्व

18. डॉ. राम प्रकाशसक्सेना- मध्य भारत के लोकगाथा गीत, संस्करण 1994, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, पृष्ठ-4
19. डॉ. स्वामी प्यारी कौड़ा- हिंदी नाटक और रंगमंच में लोकतत्त्व, सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृष्ठ-265

होता है। विषय की दृष्टि से ये दो प्रकार की मानी गई हैं- (१) घटना प्रधान (२) विचार अथवा विश्वास प्रधान। इन दोनों प्रकार की रूढ़ियों का प्रयोग हिंदी नाटकों में किया गया है।

लोक विश्वास

लोकतत्व के अंतर्गत लोक-विश्वासों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब कोई विश्वास व्यष्टिगत रूप से निकलकर समष्टिगत हो जाता है, तब वह लोक विश्वास बन जाता है। लोक विश्वास अच्छे और बुरे दोनों तरह के होते हैं। लोक में व्याप्त शकुन-अपशकुन, रीति-रिवाज, जादू-टोना, तंत्र-मन्त्र, अन्धविश्वास, झाड़-फूंक,भूत-प्रेत ,देवी-देवता आदि लोक विश्वासों की सीमा में आते हैं। ये विश्वास सभ्य से असभ्य जातियों में किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं। इन विश्वासों को तर्क और बुद्धि की तुला पर तौला नहीं जा सकता। ये सदैव मान्य और प्रचलित रहे हैं।

डॉ. श्यामाचरण दुबे ने लोक विश्वासों के बारे लिखा है – " लोक विश्वासों और दन्तकथाओं में दृश्य और अदृश्य जगत के प्रति जन साधारण का दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित होता है। उनकी नींव पर ही समाज के आचार विचार आश्रित होते हैं। इन लोक विश्वासों में लोक जीवन की भौतिक एवं धार्मिक चेतना का मूल स्रोत निहित रहता है। अंततः ये मानव समुदाय के संस्कृतिक दृष्टिकोण एवं जीवन मूल्यों को निर्धारित कर लोक जीवन को स्थिरता और स्थायित्व देते हैं।"[20]

इस प्रकार लोक विश्वास जीवन व्यवहार से ही आते हैं और जीवन के लिए ही श्रेय बन जाते हैं। ये नैतिक आचार की पाठशालाएं हैं, जिसमें लोक समाज इनसे प्राप्त निर्णयों, आज्ञाओं, मार्गदर्शनों और संकेतों को सर्वोपरि मानकर जीवन की राह प्रशस्त करता है।

लोक गीत

लोकगीत लोक साहित्य का अभिन्न हिस्सा है। मानव जब भाव विभोर होकर अपने हृदयोंदगारोंको छंदोबंध शब्दों में अभिव्यक्त करता है, तब उसे गीत की संज्ञा दी जाती है। लोकगीतों में प्रायः जीवन का प्रत्येक क्षण मुखरित होता हैं। इन गीतों में किसी देश-जाति की सभ्यता एवं संस्कृति अन्तर्निहित रहती है। ये लोक गीत सर्वसाधारण में लोकप्रिय होकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा से हस्तांतरित होते रहे हैं। विभिन्न विद्वानों ने लोक गीतों के स्वरूप और उसकी उत्पति पर अपने विचार प्रकट किये हैं। जैसे –

20. वसंत निरगुणे- लोक संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, संस्करण 2012, पृष्ठ-68

शांति अवस्थीके अनुसार- " लोक गीतों में मानव ह्रदय की प्रकृत भावनाओं की तन्मयता की तीव्रतम अवस्था की गति है।"[21]

जबकि **राहुल सांस्कृत्यायन** के मत में- " लोक गीतों का बीज हमारे प्राचीन एवं पवित्र ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में पाया जाता है । प्राचीन साहित्य में जिन गाथाओं का उल्लेख स्थान-स्थान पर पाया जाता है वे ही लोक गीतों के पूर्व प्रतिनिधि हैं।"[22]

जहाँ तक लोकगीतों के वर्गीकरण का प्रश्न है, इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद हैं।**रामनरेश त्रिपाठी** ने इसके 11 वर्ग किये हैं तो **सूर्यकरण पारीक** ने राजस्थानी लोकगीतों के आधार पर 29 वर्ग बताये हैं।**डॉ. सत्येन्द्र** ने अपने शोध-प्रबंध 'ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन' में इसके पांच वर्ग बनाये– (1) जन्म के गीत, (२) विवाह के गीत, (3) त्यौहार, व्रत और देवी आदि के गीत, (4) अन्य विविध गीत तथा (5) प्रबंध गीत। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने भी लोकगीतों की पांच कोटियाँ मानी हैं। यथा- (1) संस्कारों कि दृष्टि से, (2) रसानुभूति की प्रणाली से, (3) ऋतुओं और व्रतों के क्रम से, (4) विभिन्न जातियों के प्रकार से तथा (5) क्रिया–गीत की दृष्टि से।

लोक नाट्य

'लोक और नाट्य' – इन दो शब्दों के योग से बने लोकनाट्य का सामान्य अर्थ जनसमूह की उस कृति से है, जब नाट्य-रूप में कथोपकथन के माध्यम से किसी कथावृत्त को प्रस्तुत किया जाए। लोक नाट्य किसी देश की पारंपरिक संस्कृति का अत्यंत समृद्ध अंग होता है। भारतीय नाट्य साहित्य की परम्परा ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों से लेकर आज के आर्थिक-बौद्धिक युग तक अविच्छिन्न रूप से मिलती है। लोक नाटक शास्त्रीयता से इतर लोक मानस की सहज अभिव्यक्ति है। इसकी विशेषता उसकेलोकधर्मी स्वरूप में ही निहित है।

लोक नाट्य सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोक कथानकों और विश्वासों तथा लोक तत्वों को अपने कलेवर में समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। लोकनाट्य के सम्बन्ध में **डॉ. श्याम परमार** ने लिखा है कि " लोक नाट्य लोक-रंजन का आडंबरहीन साधन है , जो नागरिकों से अपेक्षाकृत निम्न स्तर का है , पर विशाल जन के हर्षोल्लास से सम्बंधित है । ग्रामीण जनता में इसकी परम्परा युगों से चली आ रही है। चूँकि, लोक में ग्रामीण एवं नागरिक जन सम्मिलित हैं। अतः लोकनाट्य एक मिले-जुले समाज का मंच है।

21. शरीफ मोहम्मद- मध्यप्रदेश का लोक संगीत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, पृष्ठ-196
22. वही, पृष्ठ-196

»[23] वही **डॉ. नगेन्द्र** ने कहा है कि –"लोकनाट्य सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोककथानकों , लोकविश्वासों और लोकतत्वों को समेटे चलता है और लोक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। »[24]

"हिंदी की लोकनाट्य परम्परा बहुत प्राचीन और समृद्ध रही है। अत्यंत विकसित लोकनाटकों – रामलीला और रासलीला के साथ–साथ नितांत सरल प्रहसनमूलक नक़ल और भडैती हैं और इन दोनों के बीच गेय नाट्य-रूप, नौटंकी, स्वांग, ख्याल और माच हैं। प्रदर्शन की दृष्टि से भी लोकनाट्य में बड़ी विविधता है और उसके व्यवहार और रूढ़ियाँ बहुत रोचक हैं। उसमें कथानक की गरिमा और रोचकता है, काव्य का सौन्दर्य है, नृत्य और संगीत का बड़ा ही नाटकीय प्रौढ़ रूप है और सज्जा तथा वेशभूषा का भी आकर्षक सौन्दर्य है।"[25] इन लोक नाट्यों को जनविश्वासों और जन रुचियों की गहरी पहचान होती है तथा इनमें एक त्वरित प्रेषणीयता और सम्मोहन भी होता है। कुल मिलकर लोक नाट्य का सम्बन्ध लोकजीवन,उसकी रूचि और संवेदना से है।

लोक भाषा

लोकभाषा से तात्पर्य जन सामान्य की भाषा से है। भाषा के माध्यम से ही विचारों का संप्रेक्षण सम्भव है। इसके अतिरिक्त भाषा अपने समाज के इतिहास का जीवंत पृष्ठ है, जिसमें तत्कालीन समाज के नैतिक मूल्यों, रीति-रिवाजों, सोचने-समझने की विधियों से लेकर उसकी साहित्यिक यात्राओं आदि के बीज छिपे है। लोक भाषाओं में स्थानीय बोली, मुहावरों,लोकोक्तियों आदि का समावेश रहता है। समकालीन हिंदी नाटकों में लोकभाषा का व्यापक प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार लोकतत्त्वों का सम्यक अध्ययन करने के बाद हम कह सकते हैं कि 'लोकतत्व' मानव के आदिम विश्वासों और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति लोककथाओं,लोक प्रथाओं, लोक रीति-रिवाजों, उत्सवों–पर्वों, आचार–विचार, लोक गीतों, संस्कारों, लोक विश्वासों आदि में मिलती है। इनमें गंभीर सामूहिक प्रभाव डालने की शक्ति विद्यमान है। अपनी व्यापकता में लोकसंस्कृति, परम्पराएँ,प्रथाएं,पुराण, इतिहास,मिथक आदि सभी कुछ लोकतत्व हैं।

23. रंजन- आंगिक लोक साहित्य, शब्दसृष्टि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2009, अनुवादकीय से
24. वही. अनुवादकीय से
25. सुरेश अवस्थी- हे सामाजिक (भारतीय रंग परम्परा पर संवाद), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, संस्करण 2002, पृष्ठ-62